विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
प्राचीन भारत की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था
डॉ. किरण शर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4
पुराणों द्वारा वैदिक संस्कृति का सामाजीकरण
रूपनारायण शर्मा

पृष्ठ क्र. 5-6
मगध और उसकी परंपरा
यतींद्र तिवारी

पृष्ठ क्र. 7
भारत की सांस्कृतिक उपलब्धि में पल्लव
एस. राजेन्द्र कुमार

पृष्ठ क्र. 8
एक अद्भुत कृति तिलक लिखित गीता रहस्य
मिथिलेश यादव

प्राचीन भारत की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था

डॉ. किरण शर्मा

भारतवर्ष में छठवीं शताब्दी ई.पू. में जैन व बौद्ध दो बड़े परम्परा विरोधी और सुधारवादी धर्मों का उदय हुआ। जनता में इन धर्मों का प्रचार हुआ जिससे प्रजा वैदिक मार्ग और परम्परा विरोधी पंथ दो बलों में बँट गयी। महावीर और बुद्ध के बाद नाग, नंद और मौर्य वंश के अधिकांश राजाओं ने इन नये पंथों को ग्रहण किया, जो इनके पक्के अनुयायी नहीं थे फिर भी इनसे प्रभावित थे। इन राजाओं ने वैदिक धर्म, आचार तथा नीति का त्याग किया तथा धर्म व राजनीति दोनों क्षेत्रों में नये प्रयोग किये। वैदिक धर्म मानने वालों की समाज में अब बड़ी संख्या थी। वैदिक मार्गियों के नये प्रयोगों और मार्गों से असंतोष पुराणों और धर्मशास्त्र के ग्रंथों में स्पष्ट दिखाई देता है कई बार व्रात्य, वृषल आदि उपाधियों से सुधारवादी राजवंश लांछित किये गये। अशोक के समय में नये आदर्शों का प्रयोग अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। इससे एशिया के कई देशों में बौद्ध धर्म और नीतिमार्ग का प्रचार अवश्य हुआ, परन्तु मध्य और पश्चिमी एशिया के यवन पर इस नीति का प्रभाव नहीं पड़ा। इस नीति के फलस्वरूप देश में राष्ट्रीयता और सैनिक शक्तियाँ शिथिल पड़ गयी। अंतिम मौर्य राजे धर्मवादी विलासी और दुर्बल थे। वे मगध साम्राज्य को आन्तरिक विद्रोहों से बचाने और विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने में बिल्कुल असमर्थ थे। इस परिस्थिति में मौर्यवंश के विरोध में धार्मिक और राजनीतिक दोहरी प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के नेता अधिकतर वैदिक मार्गी ब्राह्मण थे।

मौर्यवंश के पतन के बाद लगातार शुंग, कण्व और आन्ध्र सातवाहन तीन ब्राह्मण राजवंश हुए, जिन्होंने वैदिक धर्म, वर्णाश्रम–व्यवस्था, शत्रुदेशी राष्ट्रीय राजनीति और परम्परा के अनुरूप जीवन के पुनरूत्थान का प्रयास किया। शुंगों के नेतृत्व में ब्राह्मणों ने पुनः वैदिक मर्यादा को स्थापित कर वेदवाद की पताका फहराई। सदियों से खोई हुई अपनी धार्मिक परम्परा को पुनः प्राप्त कर यज्ञों, संस्कारों का ऐसा रूप बना दिया, जो कालान्तर में हिन्दू संस्कृति का मुख्य अंग बन गया। यद्यपि ब्राह्मणों द्वारा वैदिक धर्म का पुर्नजागरण किया तो गया पर बौद्ध व जैन धर्मों ने व्यक्ति के मन तथा सामाजिक जीवन पर जो अमिट छाप छोड़ी थी वह पूर्णरूप से मिटायी न जा सकी। अतः वैदिक धर्म को समेटने के प्रयास ने नये धार्मिक जन आंदोलन का रूप धारण किया। व्यक्तिवाद का प्रचार बढ़ा। लोक जीवन को आप्लावित करने के लिये भक्ति सरल उपाय था। अतः विभिन्न देवी–देवताओं उनकी मूर्तियों, धार्मिक कर्मकण्डों के साथ एक नये पौराणिक धर्म का उदय हुआ। इस युग की यह सबसे उल्लेखनीय घटना है। धनमूर्ति के अयोध्या अभिलेख से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र ने वैदिक यज्ञों को पुनः स्थापित करने हेतु दो अश्वमेध यज्ञों को सम्पन्न किया।

हरिवंशपुराण के अनुसार राजा जनमेजय के बाद पुष्यनित्र ने अश्वमेध का पुनरोहण किया। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र के अश्वमेघ के प्रधान आचार्य स्वयं पतंजलि ही थे। वैदिक देवताओं के नये रूप यज्ञों की जगह मंदिर में पूजा तथा अवतारों की उपासना में लक्षित इस नये पौराणिक धर्म की प्रथम अभिव्यक्ति अश्वमेध पुनरोहण की धार्मिक क्रांति के रूप में हुई थी। वैदिक धर्म का नया रूप जन साधारण की वस्तु न थी, जबकि बौद्ध धर्म जनसाधारण के लिए था। बौद्ध धर्म आचार प्रधान था। परमेश्वर के लिए उसमें जगह न थी, देवता उसमें स्वयं उपासक थे। जनसाधारण ने बुद्ध की शिक्षाओं को ना तो लिया था, पर ईश्वर के बिना उनका काम चलना कठिन था। अतः समाज में निम्न वर्गों तथा अनार्य जातियों में प्रचलित जड़ पूजाओं तथा स्थानीय देवी–देवताओं को लेकर किसी न किसी वैदिक देवता के साथ उन्हें मिला दिया गया। फलतः वनचरों के देवता के भयंकर देवी–देवता काली और रूद्र के रूप में बन गये। उस समय जितने देवता पूजे जाते थे। वे शिव, विष्णु, सूर्य, स्कंद

आदि भिन्न–भिन्न शक्तियों के सूचक के रूप बन गये। वैदिक धर्म के साथ भागवत धर्म की भी शुंगकाल में विशेष उन्नति हुई। वास्तव में भागवत धर्म भी वैदिक मतावलम्बियों का ही धर्म था, जिसमें यज्ञ के स्थान पर भगवान की मूर्ति व भक्ति प्रधान थी। महाभारत और अन्य पश्चात्वर्ती ग्रंथों से ज्ञात होता है कि वासुदेव कृष्ण और बलदेव का नाम सुधार की उस लहर के साथ जुड़ा था, जो सर्वप्रथम वासुदेवपरिचार के समय यज्ञों की हिंसा, कर्मकाण्ड और सूखे तप के विरूद्ध उठी थी। शुंगकाल में अनेक देवताओं की पूजा प्रचलित थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि शूरसेनों में हेराक्लेस की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी। घोसुण्डी अभिलेख में संकर्षण और वासुदेव के लिए पूजा शिला का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि इस समय संकर्षण और वासुदेव मुख्य देवता माने जाते थे। डॉ. वर्थ का मत है कि मानवी देवता कृष्ण जो कि एक प्रचलित लोक–देवता थे, विष्णु के स्थान पर स्थापित हो गये थे। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि विष्णु को प्रभुत्व प्राप्ति और कृष्ण के साथ उनके समीकरण इन दोनों में संबंध है।

महाभाष्य से ज्ञात होता है कि इस समय धनपति या वैष्णव की पूजा होती थी। राम और केशव की भी पूजा का प्रचलन था। राम का नाम बलराम के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनकी एक प्रतिमा मथुरा जिला के जुनसठी ग्राम से प्राप्त हुई हैं। शुंग युग में शिव भक्ति का प्रचार भी प्राप्त होता है। महाभाष्य में शिव, स्कन्द और विशाख की प्रतिमाओं की चर्चा है। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि पवित्र अंतःकरण सबसे बड़ा तीर्थ तथा मानसिक पवित्रता सबसे बड़ा धर्म है, जिसकी इन्द्रियाँ व मन संयत हो। कोई दुर्व्यसन न हो, दंभ आदि से रहित हो, अक्रोधी सत्यनिष्ठ, दयालु तथा भक्ति–परायण हो, उसे तीर्थाटन का फल मिलता है। इस प्रकार तीर्थों का बड़ा ही महत्व था। साधारणतः गृहस्थ पंचमहायज्ञ करता था, जिसमें पितरों, देवों, ब्राह्मणों, अतिथियों और भूतों को संतुष्ट किया जाता था। इस युग में अग्नि में हवन डालना लोक कल्याण कारक माना जाता था। अतिथि सेवा भी पंचमहायज्ञ का एक मुख्य धर्मकृत्य था। महाभारत में कहा गया है कि यदि शत्रु भी अतिथि रूप में घर पर आये तो उसकी सेवा–सत्कार करना चाहिए। धर्मकृत्य के अन्तर्गत व्रत–उपवास का महत्व भी इस समय बढ़ गया था। काशिकार ने शास्त्र पूर्वक नियम को व्रत माना है। इस युग में अनेक प्रकार की जड़ पूजाओं का भी प्रचलन था। इन पूजाओं में यक्षों, नागों, वृक्षों की पूजाओं का उल्लेख मिलता है। महाभारत में नाग–मंदिर तथा नाग चौत्य के उल्लेख मिलते हैं। वृक्ष पूजा की भी प्रधानता थी। सम्भवतः नाग पूजा की भाँति इसका भी उद्‌भेव आर्येतर समाज में हुआ। ऋग्वेद में अश्वत्थ अथवा पिप्पल वृक्ष के उल्लेख मिलते हैं। शुंग विक्रमादित्य युग के पश्चात् आंध्र सातवाहन युग में भी वैदिक धर्म की ही मान्यता थी। बौद्ध धर्म से प्रतिक्रिया और अंधों का राज्याश्रय पाकर वैदिक धर्म का इस समय विशेष उत्कर्ष हुआ। वैदिक देवमण्डल के इन्द्र, वरूण, यम, चन्द्र, सूर्य आदि देवताओं के नाम प्रायः उत्कीर्ण लेखों में मिलते हैं। वैदिक यज्ञों में अश्वमेघ, राजसूय, अग्न्याधेय, अनारम्भणीय, आप्तोर्याम, दशतिराम, गर्गातिरात्र, गंवामपन आदि यज्ञों का अनुष्ठान होता था। इनमें ब्राह्मणों व दर्शकों को प्रचुर दक्षिणा और दान मिलते थे। वैदिक धर्म के पुनरूत्थान के साथ पौराणिक वैष्णव और शैव धर्म का उदय होता हुआ भी दिखाई पड़ता है। यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि तत्कालीन धार्मिक पुनरूत्थान के समय वैष्णव या भागवत धर्म का स्वरूप आज की अपेक्षा दूसरी शती ई.पू. में काफी अंशों में भिन्न था। कृष्ण को उस समय एक नायक या प्रेमी रूप में नहीं देखा गया था। गोपी लीलाओं व प्रेम लीलाओं का विकास उस समय तक नहीं हो पाया था। दूसरी शती के कृष्ण एक आदर्श, एक मर्यादा पुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं। उनका व्यक्तित्व इतना जाज्वल्यमान तथा महिमामय था कि उसी से विष्णु नर–नारायण आदि देव पुरुषों का विकसित स्वरूप प्रकट हुआ। इसी युग में शैव धर्म को भी बल मिला और उसका विशेष रूप से विकास हुआ। लकुलीश नामक आचार्य ने इस धर्म का प्रवर्तन किया।

पौराणिक विश्वास है कि वह व्यक्ति शिव का अवतार था। वैदिक देवताओं में शिव का उल्लेख मिलता है, वैदिक ऋचाओं में कई स्थान पर उनकी वंदना की गयी है। शिव का दूसरा रूप था रूद्र अर्थात् वह रूद्र रूप धारण कभी का मन और सृष्टि का प्रलय करता है। किन्तु जब वही प्रसन्न और आनंदित होकर शुष्टि का पालन करता है तो उनको शिव या शंकर का नाम मिलता है। वैदिक वैच मण्डल के साथ ही सर्व शिन कुबेर लोकपाल आदि पौराणिक और वासुदेव–संकर्षण आदि पीचरा वैष्णव सम्प्रदाय के देवताओं के नाम भी उत्कीर्ण लेखों में पाये जाते है। इसका कारण यह था कि पूर्ण रूप से वैदिक धर्म का पुनरूत्थान असम्भव था। वैष्णव धर्म जो ईश्वर को मानव रूप में मेच्छता और मनुष्य के नैतिक आचारण पर अत्याधिक जोर देता था, धीरे–धीरे लोकप्रिय होता जा रहा था। इस धर्म को धवन और शक भी अपना रहे थे।

पुराणों द्वारा वैदिक संस्कृति का सामाजीकरण

रूपनारायण शर्मा

पुराण भारतीय संस्कृति के आगार है। वे ग्रन्थरूप में निबद्ध भले ही बहुत बाद में हुए हों, किन्तु, जहाँ तक उनकी विषय–सामग्री एवं विचारधारा का सम्बन्ध है। इस दृष्टि से वे वेदों के समवर्ती हैं। उनके आख्यान–उपाख्यानों में वेद–पूर्व आर्यों तथा आर्य भिन्न जातियों की समन्वित संस्कृति के दर्शन होते हैं। वेदों में भी अवैदिक संस्कृति के तत्व निहित हैं, किन्तु पुराणों में वे व्यापक रूप से प्रकाश में आये। ब्राह्मण–ग्रन्थों में द्वादशवर्षीय सत्रों और अश्वमेध यज्ञों के अवसर पर सभी वर्षों तथा सभी क्षेत्रों के आमन्त्रित कथावाचकों तथा उद्‌बोधकों में अवैदिक याज्ञिकों की उपस्थिति भी समान रूप से हुआ करती थी। वैदिकों की ही भाँति अवैदिक भी अपने देवताओं, राजाओं और प्रजाओं के इतिवृत्तों एवं गाथाओं का उद्‌गायन किया करते थे। इस प्रकार की अवैदिक परम्पराओं का बहुत कुछ समावेश वेदों में ही हो चुका था। किन्तु उन सम्पूर्ण अवैदिक परम्पराओं को वैदिक परम्पराओं के साथ बिना किसी संघर्ष तथा प्रतिरोध के समन्वित एवं प्रस्तुत किया पुराणों के मुनि–महात्माओं एवं सूतों ने। उन्होंने युग–युगों की परम्परागत सांस्कृतिक थाती को सर्वांगीण, सार्वदैशिक और सर्वजनोपयोगी स्थिरता एवं सुदृढ़ता प्रदान की। संक्षेप एवं सार रूप में कही गयी वेदों, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों की कथाओं–गाथाओं तथा उपाख्यानों को कलात्मक सज्जा देकर अधिक विस्तार एवं जनसुलभ रोचक ढंग से प्रस्तुत करने का कार्य किया पुराणों के सूतों, मागधों और चारणों ने। उसमें जितना योगदान ब्राह्मण पुरोहितों तथा त्रैवर्णिकों का रहा, उतना ही योगदान सूतों, मागधों तथा चारणों (वन्दियों) जैसी शूद्र जातियों का भी रहा। पुराण तत्कालीन समाज के लोक तथा शास्त्र परम्पराओं के संवाहक, सभी क्षेत्रों के लोगों की सामूहिक देन है।

पुराणों का इसलिए विशेष महत्व है कि उन्हें जन–सामान्य के लिए लिखा गया था। वेदों के गम्भीर मर्म को ब्राह्मण–ग्रन्थों की जटिल यज्ञ–विधियों को और उपनिषदों के तत्व–चिन्तन को आख्यान–उपाख्यानों द्वारा सर्वसामान्य के लिए सरल भाषा में सुगम या बोधगम्य करना ही पुराणकारों का विशेष लक्ष्य था। जैसे मध्ययुगीन रचनाकारों द्वारा पंचतंत्र तथा हितोपदेश की कथाओं द्वारा राजनीति, अर्थशास्त्र और लोक व्यवहार के प्रौढ़ ज्ञान को विमलगति बालकों के लिए प्रस्तुत किया गया है उसी प्रकार वेद–वेदान्त में सार एवं संक्षेप रूप में कही गयी बातों को पुराणों की कथाओं में सरलतापूर्वक विस्तार से कहा गया है। जो अल्पभुत है, अर्थात् जिसका अध्ययन व्यापक नहीं है या जिसने वेदों का सम्यक् अनुशीलन नहीं किया है। उससे वेद डरता है कि कहीं वह हम पर प्रहार न कर दे, अर्थात् अर्थ का अनर्थ न कर दे। इसलिए ऐसे अल्पश्रुत के लिए इतिहास पुराणों द्वारा वेदार्थ समझने की व्यवस्था की गयी है। भागवत के अनुसार वे अल्पश्रुत थे स्त्रियों, शूद्र और आचारच्युत द्विजातियों, जिन्हें वेद–श्रवण का अधिकार नहीं था। उनके श्रेय तथा हित के लिए वेदों का ज्ञान पुराणों के रूप में कहा गया है। भारत की धर्मप्राण जनता की आस्थाओं एवं निष्ठाओं के अनुरूप पुराणों में मूर्तिपूजा और अवतारवाद का विशद वर्णन हुआ है। मूर्तिपूजा और अवतारवाद की परम्परा अति प्राचीन है। वैदिक जन–जीवन और सैन्धव सभ्यता में उनके विभिन्न सन्दर्भ बिखरे हुए हैं। वेदों का हिरण्मय पुरुष ही वस्तुतः पुराणों का विष्णु है। वही वेदों का पुरुष या पुरुषोत्तम है, जो कि पुराणों के अवतारी श्रीकृष्ण का प्रतिरूप है। इस दृष्टि से वैदिक सस्कृति ही पौराणिक नारायणीय भागवतधर्म की भी जननी है। मत्स्य द्वारा मनु की नौका को उत्तरी हिमालय तक ले जाने का शतपथ ब्राह्मण का कथन वस्तुतः पुराणों के मत्स्यावतार की ही कल्पना है। अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वराहावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार और कूर्मावतार की विभिन्न चर्चाएँ हुई हैं। वेदों के सृष्टि प्रलय के सन्दर्भ में नयी जीवन पद्धति की प्रतीकात्मक रचना पुराणों के अवतारवाद का मूल है। अवतारवाद की भाँति पुराणों के देवतावाद का आधार भी वैदिक संस्कृति ही रही है।

वेदों के तैंतीस प्रमुख देवताओं के आधार पर पुराणों में तैंतीस कोटि देवताओं की कल्पना की गयी है। पुराणों का यह बहुदेवतावाद वस्तुतः परम्परागत वैदिकों तथा अवैदिकों की बहुविध आस्थाओं का परिणाम है। वैदिक देवताओं के माता–पिता, पत्नी और पुत्र के सम्बन्धों को लेकर पुराणों के देव–परिवारों का विकास हुआ। इसी प्रकार वेदों की सकाम आराधना ने ही पुराणों की भक्ति–भावना को जन्म दिया। पुराण भारतीय संस्कृति के विश्वकोश है। परम्परा द्वारा सृष्ट एवं संचित इतिहास, भूगोल, समस्त विद्याओं, शास्त्रों और कला–शिल्पों की विरासत को पुराणों में उपदेश–कथन की रोचक शैली में कहा गया है। इस राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युदय में समाज के सामान्य तथा विशेष वर्गों का जो सामूहिक योगदान रहा है उनके इतिवृत्तों को पुराणकारों ने अत्यन्त सजीव एवं सरस रूप में प्रस्तुत किया है। उनमें दस मस्तकों सहस भुजाओं और सहस्र नेत्रों के विचित्र मनुष्यों का वर्णन हुआ है। इन मनुष्यों के अतिरिक्त राक्षस, नाग, रीछ और वानर आदि विभिन्न अर्थभानुष जातियों का भी उनमें समावेश हुआ है। उनमें ऐसी कामरूप जातियों का भी उल्लेख हुआ है, जो इच्छानुसार रूप धारण करने की क्षमता रखती थीं। वस्तुतः भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के निर्माण में परम्परा से जिन विभिन्न जातियों का योगदान रहा, उन सबके चरित्रों का वर्णन पुराणों में हुआ है।

वेदों के कर्म और ज्ञान की विरासत को क्रमशः ब्राह्मण–ग्रन्थों और उपनिषदों ने विकसित किया। किन्तु आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थ केवल पुरोहितों और उपनिषद्–ग्रन्थ केवल

सन्तों तथा चिन्तनशील विचारकों तक ही सीमित हो गये। जन–सामान्य का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इसी समय जैन–बौद्धों का उदय हुआ और उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड की रूढ़िवादिता और पुरोहितों की वर्ग भावना पर प्रहार करके स्वयं को जनता में प्रतिष्ठित किया। अपनी प्रतिष्ठा तथा लोकप्रियता के लिए उन्होंने परम्परागत साहित्यिक भाषा के स्थान पर पालि तथा प्राकृत आदि लोकभाषाओं को अपने साहित्य तथा प्रचार–प्रसार का माध्यम बनाया।

समाज में जैन–बौद्धों की स्थिरता एवं व्यापकता को दृष्टि में रखकर परम्पराओं के अनुयायियों ने अपनी कट्टरताओं और रूढ़िवादिता को उदार तथा जन–सुलभ बनाने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने सर्व प्रथम जैन–बौद्धों के नास्तिकवाद को अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया और उनकी धारणा, ध्यान, समाधि, गृहत्याग और संसार की दुःखमयता का भी प्रतिवाद किया। उन्होंने ऐसे सुगम धर्म को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जिसमे परम्पराओं के आदर्श निहित थे और जो सर्व सामान्य के लिए ग्राह्य तथा उपयोगी था। पुराणों के इस युगधर्म ने बृहद् भारतीय समाज के अन्तर्गत विभिन्न जातियों एवं कबीलों के आचारों तथा संस्कारों को स्वायतकर नयी जीवन पद्धति को पुनः स्थापित किया। पौराणिक धर्म के प्रवर्तक मुनि–महात्माओं ने युग की आकांक्षाओं के अनुरूप वर्ण–संकीर्णता और जातीय भेदभाव को मिटाकर नयी आचार संहिता को प्रचलित किया, जिसमें सवर्ण–असवर्ण तथा अनुलोम–प्रतिलोम विवाह–विधि की वैधता को सस्थापित किया गया। भारतीय संस्कृति के इतिहास में पौराणिक धर्म की यह नयी देन थी। ब्राह्मण समर्थित परम्पराओं के प्रवर्तन में धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों ने वर्णाश्रम धर्मों में असमानता तथा विशेषाधिकारों का वर्ग–विभाजन करके जिस भेद–बुद्धि की सृष्टि की थी। पुराणों ने उसको पराभूत कर मानवमात्र में समानता की स्थापना की। इस रूप में पुराण में भिन्न मानवधर्म के प्रतिपादक ग्रंथ हैं।

पुराणों की नई धर्मसंहिता ने परंपरागत भेद–बुद्धि के कारण शूद्रों स्त्रियों, पतितों तथा दासों के वर्ग–विभेद को मिटाकर एक ऐसे उदात्त धर्म की स्थापना की। जिसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था और जिस पर चलकर सर्व सामान्य अपना स्वतन्त्र विकास कर सकता था। पुराणों की संस्कृति इस रूप में श्रेष्ठ एवं वरणीय है कि उसने व्यक्ति–स्वातन्त्र्य पर बल दिया गया है और जातीय श्रेष्ठता एवं कुल की उच्चता की अपेक्षा योग्यता, बुद्धि तथा कार्यक्षमता के आधार पर प्रगति करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। वेदों से पूर्व और वैदिक युग में, विशेष रूप से ऋग्वैदिक काल में, आर्यों तथा अर्येतरों के पारस्परिक मेल–जोल से जिस समन्वित संस्कृति का उदय हुआ उसे वैदिक संस्कृति के नाम से कहा जाता है। उसके बाद जैसे–जैसे परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रहीं और नयी सामाजिक चेतना का स्फुटन हुआ, वैसे–वैसे परम्परागत संस्कृति के क्षेत्र में भी विकास के नये आयाम जुड़े। भारतीय संस्कृति का नया रूप पौराणिक संस्कृति के नाम से प्रकाश में आया। यह पौराणिक संस्कृति वस्तुतः वैदिक संस्कृति का ही रूपान्तर थी। उसके बाद वैदिक परम्परा के पुराणकालीन ऋषि–मुनियों द्वारा पौराणिक संस्कृति के पल्लवन में जो यशस्वी प्रयत्न हुए, महाकाव्यों की समृद्ध संस्कृति उसी का परिणाम है। नीति, वंशावली, आख्यान, गाथाएँ और नाराशंसी आदि से संबद्ध जिस इतिहासपुराण का उल्लेख वेदों तथा परवर्ती साहित्य में निहित रामायण और महाभारत में उसका साहित्यिक उत्तराधिकार सुरक्षित है। इतिहास के परम्परागत सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि अतीत के लगभग पाँच हजार वर्षों पूर्व सिन्धुवासियों से आर्यों का जो प्रथम समागम हुआ उसमें पारस्परिक अधिकारों तथा प्रभुत्व की होड़ से दोनों पक्षों में अनेक बार तुमुल संघर्ष हुए। इन संघर्षों में सिन्धुवासी आर्येतर जातियों के प्रतिनिधि थे असुर तथा दैत्य–दानव और आर्यों के प्रतिनिधि थे सुर या देवता। असुरों पर सुरों की विजय से आर्येतर जातियों पर आर्यों के प्रभत्व की स्थापना हुई। पहले तो उन्होंने सप्त–सिन्धु पर अधिकार किया और उसके बाद भारत के पूर्व उत्तर में फैले। ऊपर जिस देवासुर–संग्राम की चर्चा की गयी है वह निरन्तर कई सौ वर्षों तक चलता रहा। इसलिए संभवतः उसमें अनेक देवताओं, ऋषियों, असुरों, राजाओं, सामन्तों, सेनापतियों और योद्धाओं ने वीरगति को प्राप्त किया। अपने प्राणों की आहुति देकर उन्होंने राष्ट्ररक्षा का जो महान् कार्य किया था उसके फलस्वरूप तत्कालीन जनकवियों ने उनकी वीरगाथाओं एवं उदात्त ख्यातों की मौखिक रचना कर डाली और उन्हें समाज में गा–गाकर एक ओर तो उन्होंने जनता में राष्ट्रीय गौरव की स्मृति को उज्जीवित किया और दूसरी ओर उसी के द्वारा अपनी आजीविका की भी रक्षा की।

इस प्रकार के आदर्श एवं अनुकरणीय प्रेरणाप्रद वीर–वृत्तों को गा–गाकर सुनाने की परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही थी। जन–कवियों द्वारा मौखिक रूप में सुरक्षित इन ख्यातों का तत्कालीन ऋषिवंशों ने अपने अनुभवों तथा प्रत्यक्षद्रष्ट घटनाओं के आधार पर अपनी कवि–बुद्धि से काव्य की सुन्दरताओं से सँजोकर आख्यायिकाओं के रूप में उपनिबद्ध किया। इन कवित्व–प्रतिभा–सम्पन्न ऋषियों के दो प्रमुख वंश थे। एक तो आर्य शाखा से सम्बद्ध था और दूसरा आर्येतर शाखा से। ऋषियों के इन दोनों वंशों का सिन्धु संस्कृति तथा वैदिक संस्कृति के उत्थान–पतन में सक्रिय योगदान रहा। उन्होंने अपने–अपने पक्षों की सेनाओं के लिए व्यूह–रचना करने के साथ–साथ स्वयं भी युद्धों में भाग लिया। इस प्रकार के ऋषियों में वसिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम और अगस्त्य आदि का नाम लिया जा सकता है। इन ऋषियों ने और उनके उत्तरवर्ती वंशजों ने अपने–अपने युगों की घटनाओं एवं परिस्थितियों के स्वानुभूत सत्य को जन–कवियों की मौखिक ख्यातों के साथ निबद्ध करके इस राष्ट्रीय एवं जातीय इतिहास को सुरक्षित रखा। परम्परा द्वारा अभिरक्षित भारत के लगभग ढाई हजार वर्षों का राष्ट्रीय इतिहास रामायण और महाभारत के रूप में आज हमारे समक्ष है।

मगध और उसकी परंपरा

यतींद्र तिवारी

मगध या मागध भारतीय इतिहास का सर्व प्रथम प्रभुता सम्पन्न महा जनपद था। उसका अस्तित्व बहुत प्राचीन है वेदों से लेकर पुराणों तक मगध और वहीं के शासकों का बहुविध उल्लेख मिलता है। पुराणों से ज्ञात होता है कि महाभारत युद्ध से पूर्व मगध में बार्हद्रथों का शासन स्थापित हो चुका था और चेदि नरेश उपरिचार का पुत्र बृहद्रथ सर्वप्रथम मगध नरेश की उपाधि से विभूषित हो चुका था। वह प्रतापी मगध साम्राज्य का प्रतिष्ठाता था। उसके बाद उसका पुत्र जरासन्ध और तदन्तर पौत्र सहदेव उत्तराधिकारी हुआ। ये दोनों शासक महाभारतकालीन थे। मगधपति बृहद्रथ की तेईसवीं पीढ़ी के बाद मगध पर अवन्ति नरेश चन्द्रप्रद्योत का अधिकार हुआ। तदन्तर गिरिब्रज का शिशुनागवंश मगध का स्वामी बना, जिसके उत्तराधिकारियों की ऐतिहासिक परम्परा इस प्रकार है– शिशुनाग–काकवर्ण–क्षेत्रधर्मन–छत्राजीत और बिम्बिसार। इनमें बिम्बिसार ही सर्वाधिक प्रतापी शासक हुआ। बिम्बिसार 544–43 ई.पू. में राजगद्दी पर बैठा और लगभग 52 वर्ष शासन करने के उपरान्त 491 ई.पू. में उसका पुत्र अजातशत्रतु मगध का स्वामी बना। उसने लगभग 459 ई.पू. तक शासन किया। ये दोनों पिता–पुत्र महावीर स्वामी और गौतमबुद्ध के समकालीन थे। मगध साम्राज्य को शक्ति सम्पन्न बनाने और उसका विस्तार करने में उक्त दोनों पिता–पुत्र का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

बिम्बिसार ने अंग और काशी जनपदों पर विजय प्राप्तकर उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया था। अजातशत्रु की महत्वाकांक्षा इस सीमा तक पहुँची कि अपने पिता की हत्या कर वह स्वयं साम्राज्य का स्वामी बन बैठा। उसने उत्तर भारत के समस्त छोटे–बड़े जनपदों को हस्तगतकर विशाल मगध साम्राज्य की नींव डाली। राजगृह और पाटलिपुत्र को उसने अपनी राजधानियों बनायीं। एक शक्ति सम्पन्न विशाल साम्राज्य का स्वामी बनने के उपरान्त उसके क्रूर एवं निष्ठुर स्वभाव में भी परिवर्तन हुआ। भरहुत (200 ई.पू.) की एक मूर्ति से, जिसमें बुद्ध के चरणों में अजातशत्रु अंकित है, ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने अपनी क्रूरताओं और निष्ठुरताओं का परित्यागकर बौद्ध–जैन धर्मों के सत्य, त्याग, अहिंसा और जन–मंगलकारी सिद्धान्तों को अपना लिया था। अपने सम–सामयिक महावीर स्वामी और तथागत बुद्ध के उपदेशों को अपनाकर जीवन के उत्तरार्द्ध में वह एक सन्त स्वभाव का शासक बन गया था। बौद्धधर्म और संघ के अन्दर जो अनेक विरोध और विषमताएँ समाविष्ट हो गयी थीं और जिनके कारण उसकी एकता विच्छिन्न होने की स्थिति में पहुँच गयी थी, उसके संगठन और संवर्द्धन के लिए अजातशत्रु ने राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया था। मगधपति अजातशत्रु एक धर्मनिरपेक्ष, आत्मचिन्तक और कलाप्रेमी शासक था। उसने अपनी राजधानी राजगृह के चारों ओर भव्य स्तूपों का निर्माण और अपने जनपद के अठारह महाविहारों का जीर्णोद्धार कराया था। उसने विशाल गुफामण्डप भी बनवाये। उसने राजगृह के पंचपर्वतों में वैभार पर्वत की 'सत्तपण्णि' नामक गुफा का निर्माण करके उसके आगे एक विशाल मण्डप बनवाया था। इसी मण्डप के नीचे अजातशत्रु ने इतिहास प्रसिद्ध प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया था। बुद्धपरिनिर्वाण के तत्काल बाद ही, सम्भवतः चौथे मास बाद, श्रावण महीने में प्रथम संगीति का अधिवेशन आयोजित हुआ था। 'चुल्लवग्ग' के ग्यारहवें खधक के अनुसार और दीपवंश तथा महावंश के वचनानुसार यह संगीति राजगृह (कुशीनगर) में आयोजित हुई थी। अजातशत्रु इसके आयोजक और महाकरसप इसके सभापति थे। उपालि और आनन्द ने उसमें प्रमुख भाग लिया था। चीनी–तिब्बतीय परम्पराओं के अनुसार इस संगीति में एक हजार भिक्षु उपस्थित थे, किन्तु भारतीय परम्परा उनकी संख्या चार सौ निन्यानवें बताती है। जैसा कि बौद्ध अनुश्रुतियों में उसको पंचशतिका नाम दिया गया है।

इन संगीति का वर्णन विनयपिटक, दीपवंश, महावंश, सामन्तपासादिका की निदान कथा (विनयपिटक का रूपान्तर), महाबोधिवश, महावस्तु और तिब्बती 'डुल्य' आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है। इस संगीति में चार बातों का निर्णय किया गया था–(1) उपालि के नेतृत्व में विनय की निश्चिति, आनंद के नेतृत्व में धम्म के पाठ का निश्चयः (3) आननः पर आक्षेप एवं उनका उत्तर और (4) चन्न को ब्रह्मदण्ड की सजा तथा उसका परिताप। इस संगीति का प्रमुख उद्देश्य वस्तुतः बुद्धवचनों का संगायन एवं संग्रह करना था। अजातशत्रु के बाद मगध जनपद

की शासन–परम्परा के सम्बन्ध में ब्राह्माण जैन और बौद्ध–तीनों धर्मों के साहित्य में एक बहुविध उल्लेख देखने को मिलते हैं। भारत के बाहर सिंहली, बर्मी और नेपाली परम्पराओं एवं अनुश्रुतियों में उसकी चर्चाएँ हुई हैं। इनके सभी उल्लेखों एवं चर्चाओं में पारस्परिक इतनी भिन्नता है कि उनसे किसी एक निश्चय पर पहुँचना प्रायः दुष्कर है। बौद्ध स्रोतों के आधार पर गाइगर ने महावश की भूमिका में शासकों का जो क्रम निर्धारित किया है। आधुनिक इतिहासकारों ने उसी को प्रामाणिक माना है। उन्होंने बौद्ध–स्रोतों के साथ पुराणों के संदर्भों का भी सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

गाइगर ने महावंश के आधार पर उदायिभिद्द को अजातशत्रु का उत्तराधिकारी सिद्ध किया है। उसने 16 वर्ष, अर्थात 459–443 ई.पू. तक राज्य किया। बौद्ध अनुभुति उदायि को अपने पिता का घातक बताती है, किन्तु उसके विपरीत जैन अनुश्रुति उसे पितृभक्त होने का विवरण प्रस्तुत करती है। अपने पिता का निधन होते समय वह चम्पा का राजा था। उसके बाद उसने पाटलिपुत्र में अपनी राजधानी स्थानान्तरित की। अपने पिता की भाँति यह भी जैन और बौद्ध–दोनों धर्मों के प्रति समान निष्ठा रखता था। मगध और अवन्ति जनपदों की पारस्परिक शत्रुता एवं अनबन के कारण अवन्ति के शासक पालक ने किसी नवकर्मा नामक व्यक्ति द्वारा छल से उदायि का वध करवा दिया था। पुराणों में अजातशत्रु के उत्तराधिकारी का नाम दर्शक बताया गया है और उसके शासन–काल की अवधि 24 वर्ष (567 ई.पू.) दी गयी है उदायि के बाद मगध पर अनुरुद्ध ने शासन किया, किन्तु उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। उसके शासन काल की कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। अनुरुद्ध के बाद मुंड मगध का शासक बना। उसने 8 वर्ष अर्थात् 435 ई.पू. तक शासन किया। उसकी स्त्री का नाम मछा था। जिसकी मृत्यु पर उसने बडा शोक प्रकट किया था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। मुंड के अनन्तर नागदसक पाटलिपुत्र का स्वामी बना। उसने 24 वर्ष अर्थात् 411 ई.पू. तक राज्य किया।

नागदसक के बाद पाटलिपुत्र के शासन की बागडोर शक्तिशाली शासक सुगुनाग के हाथों में गयी। बौद्ध अनुभुतियों के आधार पर उसने 18 वर्ष अर्थात 393 ई.पू. तक शासन किया। सिंहली अनुभुतियों से पता चलता है कि सुयुनाग अमात्य पद पर अधिष्ठित था। जनता ने अजातशत्रु के वंशज शासकों की पितृहना प्रवृत्ति से ऊबकर अमात्य सुसुनाग को राजसिंहासन पर बैठाया था। पुराणों में उसे शिशुनाग के नाम से कहा गया है। उसने पाटलिपुत्र का शासन हस्तगत करने के उपरान्त अवन्ति के प्रद्योत शासक नन्दिकर्शन को पराजित करके यहाँ भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसने यद्यपि पाटलिपुत्र को राजधानी बनाये रखा, किन्तु मगध की राजधानी राजगृह से भी सम्बन्ध स्थापित किया। वाराणसी में उसने अपने पुत्र को प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार शिशुनाग ने स्वय को एक शक्तिशाली एवं विशाल जनपद का शासक बनाने में सफलता प्राप्त की। शिशुनाग के बाद मगध का शासनाधिकार कालाशोक के हाथों में गया, उसे काकवर्ण या काकवर्णिन नामों से भी कहा जाता है। उसने 28 वर्षों 393–365 ई.पू. तक राज्य किया। उसके बाद उसके दस पुत्रों ने 22 वर्ष अर्थात् 343 ई.पू. तक राज्य किया। कालाशोक के दस पुत्रों का नाम महावंश में इस प्रकार उल्लिखित है–1 मद्रसेन, 2. पोरण्डवर्ण, 3. मगुर 4. सर्वजह 5. जालिक, 6. चमक, 7. सञ्ज्य, 8. कोरव्य, 9. नन्दिवर्धन और 10 पञ्चमक पुराणों तथा अन्य परवर्ती स्रोतों और यूनानी विद्वान् कर्तिअस के अनुसार कालाशोक काकवर्णी के एक मुँह लगे राजनापित का रानी के साथ जारत्व सम्बन्ध स्थापित हो गया था और किसी तरह उसने राजा का भी विश्वास प्राप्त कर लिया था। उपयुक्त अवसर पाकर एक दिन उसने राजा तथा उसके दस पुत्रों को कपट से मरवा डाला और स्वय साम्राज्य का स्वामी बन बैठा। इस घातक नापितपुत्र का नाम महावंश में उग्रसेन बताया गया है जिसको कर्तिअस ने अग्रम्मेस का पिता कहा है। कुछ विद्वानों ने इस नापितपुत्र की सगति नन्द से बैठायी है, किन्तु यह मत सन्दिग्ध प्रतीत होता है। द्वितीय संगीति का आयोजन बुद्धपरिनिर्वाण के बाद 100 वर्ष के बाद हुआ। इसने 700 भिक्षु उपस्थित थे जिससे कि उसको 'सप्तशतिका' भी कहा जाता है। इस संगीतिका उदेश्य कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों को हल करने के अतिरिकमसमीति का पुन संस्करण करना भी था। यह वैशाली में आयोजित हुई थी और पूरे आठ मास तक चली। इस परिषद् में काकण्डकपुत्र यश और वज्जी के भिक्षुओं के पारस्परिक आक्षेपों पर विचार हुआ। अपने पक्ष का पर्याप्त स्पष्टीकरण करने पर भी वज्जियों ने यश को संघ से निष्कासित कर दिया।

भदन्त यश ने वज्जियों की दस वत्यूनि (दस बातें) मानने से इन्कार कर दिया था। यश ने अपने निराकरणों का समाधान एवं समर्थन पाने के लिए कौशाम्बी, अवन्ती और अट्टोपांग के भिक्षुओं से निवेदन किया और अन्त में वह अर्हत् रेवती के पास सौरेय्य पहुँचा। इन सभी भिक्षुओं ने एकमत होकर भदन्त यश के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया। इधर से इस बात को सुनकर, वज्जी भिक्षु भी रेवत के पास पहुँचे। विवाद बढ़ता ही गया। अन्त में सात सौ भिक्षुओं की एक परिषद् आयोजित की गयी और उसमें पूरब तथा पश्चिम के चार–चार भिक्षुओं की एक समिति बनायी गयी। भिक्षु अजित को समिति का प्रधान और आचार्य सब्बकामी को सभापति नियुक्त किया गया। सभा में वज्जी के भिक्षुओं का आचरण अधर्मयुक्त घोषित किया गया। यह वृत्तान्त 'चुल्लवग्ग' में दिया गया है। महावग्ग और दीपवंश के अनुसार यह परिषद् अजातशत्रु के वंशज कालाशोक के समय में हुई थी, जिसमें दस हजार भिक्षु उपस्थित थे। उन दस हजार भिक्षुओं में सात सौ चुने हुए भिक्षुओं ने विनय और धम्म का एक संशोधित संरकरण तैयार किया, जिससे पिटक, निकाय, अंग और धर्मस्कन्ध निर्मित हुए। धम्म के संगायन और संकलन के फलस्वरूप बुद्ध वचनों के तीन पिटकों, पाँच निकायों, नव अंगों और 4800 धर्मस्कन्धों का वर्गीकरण हुआ।

भारत की सांस्कृतिक उपलब्धि में पल्लव

एस. राजेन्द्र कुमार

पल्लवों के मूल इतिहास के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। विभिन्न विद्वानों की इस सम्बन्ध में अलग–अलग धारणाएँ हैं। प्रायः सभी इतिहासकार यह मानते हैं कि पल्लवों का मूल दक्षिण भारत के ब्राह्मणवंश से था, किन्तु बाद में युद्धजीवी होने के कारण उन्हें क्षत्रिय मान लिया गया। तृतीय–चौथी शती ई. प्राकृत भाषा के बीच में तीन ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि पल्लव राजवंश के आदि पुरुष का नाम बप्पादेव था, जिन्होंने दक्षिण भारत में कांची (कांचीवरम्) और धान्यकटक (धरणीकोटा) में दो राजधानियाँ स्थापित कीं। बप्पदेव के बाद उनके पुत्र शिवस्कन्दवर्मन और तदनन्तर विष्णुगोप उत्तराधिकारी बने। विष्णुगोप ने सम्राट समुद्रगुप्त के सम्मुख आत्मसमर्पण किया था। इन तीन पल्लव शासकों का समय तीसरी से छठी शती ई. के बीच था। भारतीय संस्कृति और कला छठी शती के अन्त में सिंहविष्णु (575–600 ई.) नामक एक प्रतापी सामन्त ने नया पास्तववंश प्रतिष्ठित किया। सिहविष्णु के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन प्रथम गद्दी पर बैठा। वह बड़ा पराक्रमी, कला–प्रेमी साहित्यानुगागी और निर्माण कार्यों में अभिरुचि रखता था। यह शव था और उसने ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के भव्य मन्दिरों का निर्माण कराके अपनी धार्मिक गरिना को चिरस्थायी बनाया। चित्रकला तथा संगीत में उसकी विशेष अभिन्न थी। उसे मत्तविलास प्रहसन नामक एक व्यंग्यात्मक प्रहसन का भी रचयिता साना जाता है। 7वीं शती ई. के द्वितीय चरण से लेकर लगभग 895 ई. के बीच पल्लववंश के प्रसिद्ध शासकों में क्रमशः नरसिंहवर्मन प्रथम परमेश्वरवर्सन प्रथम नरसिंहवर्मन द्वितीय, नन्दिवर्मन और अपराजितवर्मन का नाम उल्लेखनीय है।

पल्लव राजवंश का लगभग छह सौ वर्षों का इतिहास उसकी साहित्यिक अभिरुचियों, कलानुरागिता और धार्मिक सहिष्णुता के कारण अपना गौरवशाली स्थान रखता है। उसका शासनकाल वस्तुतः दक्षिण भारत के साहित्य, धर्म तथा कला का भव्य इतिहास है। अपनी संस्कृतज्ञता और विद्वन्निष्ठा के रूप में उन्होंने शुंग–सातवाहनों की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ और तत्कालीन संस्कृतज्ञ विद्वानों के लिए उन्होंने जो कार्य किये, वे इतिहास में अमर है। पल्लवों की राजधानी काँची संस्कृत–शिक्षा का भारत प्रसिद्ध केन्द्र था। संस्कृत के विशाल वाड्मय में काँची का व्यापक उल्लेख पल्लयों की संस्कृतनिष्ठा का ही प्रतिवायक है। पल्लवों के संस्कृतानुराग के प्रमाण उनके उपलब्ध अभिलेख हैं, जो कि प्रायः सभी संस्कृत में है त्रावणकोर निवासी किरातार्जुनीय नहाकाव्य के रचयिता क भारवि पल्लव सिंहविष्णु के समान विद्वान् थे। दिङ्गनाग म दण्डी और भानुदत्त आदि विद्वानों के ग्रन्थों से विदित होता है कि अपन ज्ञान–पिपासा की तृप्ति के

लिए काँची आये थे। व्यंग्यात्मक प्रहसन नदिन के रचयिता महेन्द्रवर्मन की संस्कृत–अभिज्ञता का उल्लेख किया गया है। आधुनिक इतिहासकार विद्वानों का अभिमत है कि भास तथा शुक को अभिनव योग्य बनाने के लिए नरसिंहवर्मन के समय उनका संक्षिप्तीकरण किया गया था। सभी पल्लव शासक धार्मिक उदार एवं सहिष्णु थे। यद्यपि वे अधिकतर गैव थे, किन्तु वैष्णवों तथा अन्य धर्मानुयायियों के साथ उनके सम्मानित सम्बन्ध बने रहे और उन्होंने प्रोत्साहित किया। सन्त अय्यर और तिरुमगै या तिरुज्ञान तथा सम्बन्दर जैसे शैव–वैष्णव सन्त और पेरुन्देवनार जैसे तमिल साहित्यकार उन्हीं के शासनकाल में हुए। उनके द्वारा निर्मित शिव एवं विष्णु के भव्य मन्दिर न केवल उनकी धार्मिक रुचि के परिणाम हैं, अपितु उनके द्वारा कला का भी व्यापक रूप से संरक्षण हुआ। उनकी धार्मिक सहिष्णुता ने ही पल्लव शासकों को कलानुरागी बनाया।

दक्षिण भारत के ओर–छोर तक फैले भव्य एवं विशाल देवमन्दिर न केवल उनके धार्मिक जागरण के स्मारक हैं, अपितु उनके द्वारा भारतीय स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्रकला की थाती का भी संरक्षण हुआ। इन देवमन्दिरों में उत्कीर्ण देवप्रतिमाएँ तथा पल्लव राजा–रानियों की पुरुषाकार प्रतिमाएँ कला की महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है। महावलीपुरम् की वराह गुफा में सिंहविष्णु (575–600 ई.) और उसकी दो रानियों की मानवाकार प्रस्तर प्रतिमाएँ इसी प्रकार की हैं। भारतीय मूर्तिकला की अजत्र धारा अपने–अपने युगों की निष्ठाओं और सौन्दर्य–अनुराग की पद्धतियों को अपने में समेटे हुए भारत के चारों और प्रसारित एवं विकसित होती हुई आगे बढ़ती गयी। अजन्ता के बाद दक्षिण भारत में मूर्तिकला की परम्परा विशेष रूप से उजागर हुई, जिसका एक उदाहरण नहाबलीपुरम् के मन्दिर की चट्टान पर उत्कीर्णित अर्जुन के रथ की दो आदमकद राजरानियाँ हैं।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

एक अद्‌भुत कृति तिलक लिखित गीता रहस्य

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक द्वारा लिखित 'गीता रहस्य' या 'कर्मयोग शास्त्र' श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की एक अत्यंत प्रसिद्ध टीका है। तिलक ने गीता के मर्म को कर्मयोग के रूप में देखा। उन्होंने बताया कि गीता का मूल संदेश त्याग या सन्यास नहीं, बल्कि निष्काम कर्म करना है। जीवन में धर्म, राजनीति और समाज के प्रति सक्रियता को उन्होंने गीता की आत्मा माना। तिलक ने गीता को केवल धार्मिक ग्रंथ के रूप में नहीं देखा, बल्कि इसे एक व्यावहारिक जीवनशैली और राष्ट्रीय कर्तव्य का मार्गदर्शक माना। उनकी यह टीका उस समय की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए लिखी गई थी और इसका उद्देश्य भारतीय जनता को स्वतंत्रता संग्राम के लिए प्रेरित करना था। उनके विचार आज भी हमें कर्मशीलता, त्याग और निष्काम सेवा के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं। उन्होंने 1908 से 1914 के बीच बर्मा के मंडला जेल में रहते हुए गीता पर यह टीका लिखी थी। उन्हें दिक्कत यह हुई कि गीता की तमाम टीकाएँ संसार से दूर ले जानेवाली यानी निवृत्ति मार्ग दिखाने वाली थीं और तिलक का मन यह मानने को तैयार ही नहीं था कि गीता जैसी किताब आपको महज मोक्ष की ओर ले जाने वाली है।

आखिर अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार करनेवाली गीता निरे मोक्ष की बात कैसे कर सकती है! इसीलिए उन्होंने कहा–मूल गीता निवृत्ति प्रधान नहीं है। वह तो कर्म प्रधान है। गीतारहस्य को महज पाँच महीने में पेंसिल से ही उन्होंने लिख डाला था। एक दौर में लगता था कि शायद ब्रिटिश हुकूमत उनके लिखे को जब्त ही कर ले। लेकिन उन्हें अपनी स्मरणशक्ति पर बहुत भरोसा था। इसीलिए अपने बन्धुओं से कहा था– डरने का कोई कारण नहीं। हालाँकि बहियाँ सरकार के पास हैं। लेकिन तो भी ग्रंथ का एक–एक शब्द मेरे दिमाग में है। विश्राम के समय अपने बंगले में बैठकर मैं उसे फिर से लिख डालूँगा। तिलक ने अपने जीवन काल में शिक्षा, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, अध्यात्म आदि अनेक विषयों को प्रस्तुत किया है। अंतरिक्ष विज्ञान पर भी 'ओरायन', 'द आर्किटेक्ट होम इन वेद' आदि ग्रंथों के आधार पर अपने अध्ययन और विचार द्वारा एक नई दिशा का निर्माण किया गया है। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दौर में जब भारतीय तत्वज्ञान और जीवन पद्धति को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर गलत तरीकों से समझाया और देखा जा रहा था तब भारतीय दर्शन और पौराणिक ग्रंथों के मूल्य का विश्लेषण सामने आया और भारतीय ग्रंथों का आधार वैज्ञानिक है, ये पूरी तरह से जगत की समझ में आये ये बातें कई ग्रंथ के लेखक के रूप में

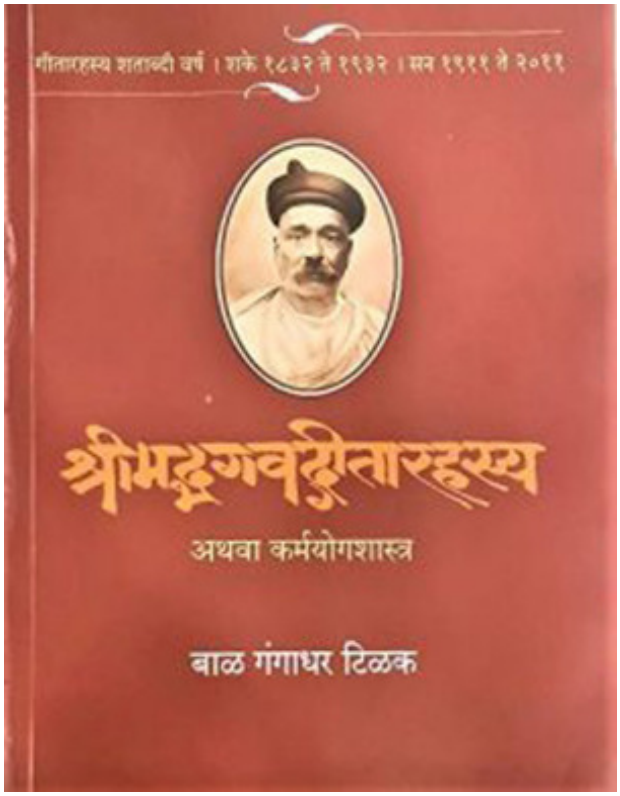

ये हैं इनकी पहचान बहुत कम लोग जानते हैं। तिलक आध्यात्मिक पुरुष थे। उन्होंने गीता रहस्य नाम का एक वृहद ग्रंथ मंडली के कथन के दौरान लिखा और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का कर्मयोगी अर्थ स्पष्ट रूप से सामने आया। श्रीमद्‌भगवद्‌ गीता पर अनेक संस्कृत या देशी अनुवाद सर्वमान्य निरुपित है। फिर भी गीता रहस्य ग्रंथ क्यों प्रकाशित हुआ? दीक्षा के कुछ उपदेश में तिलक ने कुछ ऐसी बातों का प्रतिपादन किया है जिनका आधार गीता रहस्य का महत्व है जो आपके पूरे विषय में जाना जाता है। तिलक का लेख इतना वैज्ञानिक और बिना पूर्वाग्रह का है कि वे स्वयं इस बात का उल्लेख करते हैं कि मैंने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की अनेक संस्कृत भाष्य, टीकाएँ और अनेक बौद्धों के मराठी तथा अंग्रेजी में लिखित विवेचन पढ़े और इसके पश्चात उन्होंने इसकी अपने ढंग से बृहद व्याख्या की। लोकमान्य ने कुल चार भाग और पंद्रह प्रकरणों में सांख्यशास्त्र, न्यायशास्त्र, वैशेषिकशास्त्र, योगशास्त्र, मीमांसाशास्त्र, वेदांतशास्त्र के हर एक संवाद या तत्व का विस्तृत रूप दिया है। इन छह शास्त्रों के आधार पर समग्र रूप से सब कुछ सामने रखा गया है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com